महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ

विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

संपादक

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ

बड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन 456010

फोन : 0734–2521499, 0755–2660407

Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com

Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1
वैदिक धर्म और पुष्यमित्र शुंग
यतींद्र तिवारी

पृष्ठ क्र. 3
दक्षिण के पाषाण शिल्प और जकनचारी
मनीष रत्नपारखी

पृष्ठ क्र. 5
प्राचीन अवंती जनपद की नदी संस्कृति
जयप्रकाश परिहार

पृष्ठ क्र. 8
भारत की बोलियों में गूंजता विक्रमादित्य
मथिलेश यादव

वैदिक धर्म और पुष्यमित्र शुंग

यतींद्र तिवारी

प्राचीन भारतीय इतिहास में मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात एक नवीन राजनीतिक व्यवस्था के सूत्रपात के रूप में शुंग वंश का उदय हुआ, जिसने भारतीय उपमहाद्वीप के सांस्कृतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिदृश्य को एक नई दिशा दी। इस वंश के संस्थापक पुष्यमित्र शुंग थे, जिनका जीवन, चरित्र और कार्य भारतीय इतिहास में एक संक्रमणकालीन अध्याय का उद्घाटन करते हैं। पुष्यमित्र शुंग न केवल एक शक्तिशाली सेनापति और रणनीतिक शासक थे, अपितु उन्होंने वैदिक धर्म और सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रक्रिया में भी एक ऐतिहासिक भूमिका निभाई। मौर्य वंश के अंतिम शासक बृहद्रथ की मृत्यु के बाद सत्ता ग्रहण करना शुंग काल में शास्त्रीय संस्कृत साहित्य, कला और स्थापत्य का विकास कराना, इन सभी पक्षों ने पुष्यमित्र शुंग को इतिहास में एक निर्णायक व्यक्तित्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। पुष्यमित्र शुंग की प्रारंभिक जीवन यात्रा सेनापति के रूप में आरंभ हुई। वे मौर्य वंश के अंतिम सम्राट बृहद्रथ मौर्य के सैन्य प्रमुख थे। उनका जन्म एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था और वे संस्कार, शास्त्र और युद्ध नीति में निपुण माने जाते थे। यह तथ्य विशेष उल्लेखनीय है कि मौर्य साम्राज्य, जो कि एक शक्तिशाली और सुव्यवस्थित राज्य के रूप में स्थापित था, अपने अंतिम चरण में अत्यंत दुर्बल और विखंडित हो चुका था। बृहद्रथ के समय में साम्राज्य के अधिकांश प्रांत स्वायत्तता की ओर अग्रसर हो रहे थे, और केंद्रीय शासन का प्रभाव क्षीण होता जा रहा था। इस राजनीतिक शून्यता और सैन्य दुर्बलता के मध्य, पुष्यमित्र शुंग ने अवसर का लाभ उठाया और एक शक्तिशाली राजनीतिक क्रांति को अंजाम दिया।

ऐतिहासिक उल्लेखों के अनुसार, लगभग 185 ईसा पूर्व में, पुष्यमित्र ने शुंग वंश की स्थापना की। यह घटना भारतीय इतिहास में एक निर्णायक मोड़ थी क्योंकि इससे न केवल मौर्य साम्राज्य का अंत हुआ बल्कि ब्राह्मण सत्ता का पुनरुत्थान भी प्रारंभ हुआ। इस क्रांति का स्वरूप केवल राजनीतिक नहीं था, अपितु धार्मिक और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण से भी सम्बद्ध था। पुष्यमित्र शुंग का शासनकाल वैदिक परंपरा के पुनः जागरण के लिए जाना जाता है। पुष्यमित्र शुंग ने भारतीय उपमहाद्वीप में वैदिक संस्कृति के पुनर्जीवन हेतु अनेक प्रयास किए। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया, जो कि वैदिक परंपरा का सर्वोच्च राजसूचक अनुष्ठान माना जाता है। ऐतिहासिक रूप से प्रामाणित है कि उन्होंने दो या तीन बार अश्वमेध यज्ञ किया था, जिससे यह स्पष्ट होता है कि वे न केवल धर्मप्रवण थे, बल्कि वैदिक आदर्शों की पुनर्स्थापना को राज्य की नीति में प्रमुखता देने वाले शासक भी थे। अश्वमेध यज्ञ के आयोजन से यह संदेश भी गया कि मौर्य काल की धर्मनिरपेक्षता की जगह अब पुनः एक धर्मपरायण राज्य का उदय हुआ है जिसमें ब्राह्मण धर्म और उसके विधि–विधान को विशेष सम्मान प्राप्त था। उनकी राजनैतिक नीति का दूसरा प्रमुख पक्ष सैन्य पुनर्गठन और सीमाओं की रक्षा था। मौर्य साम्राज्य के पतन के समय भारत की पश्चिमी सीमा पर यवनों (यूनानी शासकों) का आक्रमण प्रारंभ हो चुका था। बैक्ट्रिया के यूनानी शासक डेमेट्रियस ने भारत पर चढ़ाई कर मथुरा और पंजाब तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। इस चुनौतीपूर्ण स्थिति में पुष्यमित्र शुंग ने पश्चिमी आक्रमणों का डटकर प्रतिरोध किया। मालवा, मथुरा और विदिशा क्षेत्रों में यवनों के साथ हुए संघर्षों में उन्होंने अपने सामरिक कौशल और युद्ध नीति का परिचय दिया। भास के नाटकों में यवनों के विरुद्ध हुई विजय का उल्लेख आता है, जिससे यह ज्ञात होता है कि शुंगों ने विदेशी आक्रमणों को सीमित करने में सफलता प्राप्त की थी। उनका साम्राज्य उत्तर भारत के अधिकांश भागों में फैला था। इसमें आधुनिक उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश और कुछ पश्चिमी क्षेत्र सम्मिलित थे। उन्होंने विदिशा को एक प्रमुख सांस्कृतिक केंद्र के रूप में विकसित

किया, जहाँ से कला, स्थापत्य और धार्मिक गतिविधियाँ संचालित होती थीं। पुष्यमित्र शुंग की सांस्कृतिक नीति अत्यंत दूरदर्शिता से युक्त थी। उन्होंने वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा के साथ–साथ संस्कृत भाषा और साहित्य को भी संरक्षण प्रदान किया। उनके शासनकाल में पाणिनि के व्याकरण पर आधारित शिक्षा पद्धति को पुनर्जीवित किया गया और वेदों की शिक्षा को पुनः संस्थागत रूप दिया गया। कई ब्राह्मण विद्यालयों की स्थापना हुई तथा स्मृति और श्रुति परंपराओं को शासन द्वारा समर्थन प्रदान किया गया। इतिहासकारों के अनुसार, पुष्यमित्र शुंग का शासनकाल कुल 36 वर्षों तक रहा। इस दीर्घ अवधि में उन्होंने एक स्थिर और मजबूत शासन की नींव रखी। उनके पुत्र अग्निमित्र शुंग ने उनके बाद शासन संभाला। भास रचित संस्कृत नाटक 'मालविकाग्निमित्रम्' में अग्निमित्र का उल्लेख मिलता है जिससे शुंग वंश के दरबारी जीवन, संस्कृति और तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की झलक मिलती है।

पुष्यमित्र का शासन धार्मिक सहिष्णुता और वैदिक पुनरुत्थान के संतुलन का उदाहरण है। यद्यपि बौद्ध स्रोतों में उनकी आलोचना की गई है, परंतु यह आवश्यक नहीं कि उन विवरणों को शत–प्रतिशत ऐतिहासिक माना जाए। संभवतः यह बौद्ध संप्रदाय की गिरती प्रतिष्ठा और ब्राह्मणों के पुनरुत्थान के प्रति असंतोष का परिणाम था। कला के क्षेत्र में भी पुष्यमित्र शुंग का युग अत्यंत समृद्ध रहा। शुंग कला शैली, जो मौर्य कला की भव्यता के विपरीत अधिक सजावटी और भावनात्मक थी, का विकास इसी काल में हुआ। भरहुत और साँची के स्तूपों में की गई मूर्तिकला तथा रेलिंगों की अलंकरण शैली शुंग कला के उत्कर्ष को दर्शाती है। भरहुत स्तूप की रेलिंगों पर अंकित मूर्तियाँ उस समय की धार्मिक एवं सामाजिक प्रवृत्तियों की झलक देती हैं। इन चित्रों में लोककथाओं, जातक कथाओं तथा दैनिक जीवन की झाँकियाँ प्रस्तुत की गई हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि कला को जनसामान्य के जीवन से जोड़ा गया था। शुंग काल में मौर्य प्रशासनिक ढांचे में आंशिक परिवर्तन किए गए। यद्यपि उन्होंने मौर्य नीति के कई पक्षों को बनाए रखा, फिर भी स्थानीय शासकों को अधिक स्वतंत्रता दी गई, जिससे साम्राज्य अधिक व्यावहारिक और लोचदार हो सका। भूमि कर व्यवस्था, सैनिक प्रशासन और धार्मिक प्रायोजन में संतुलन उनके शासन की विशेषता थी। उन्होंने ब्राह्मणों को विशेष सम्मान प्रदान किया और वेदाध्ययन एवं यज्ञों को राज्य प्रायोजित कार्यक्रमों के रूप में प्रतिष्ठा दिलाई। यह भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने ग्रामीण अर्थव्यवस्था को भी सुदृढ़ करने के लिए सिंचाई और कृषि पर ध्यान केंद्रित किया। मंदिर निर्माण की प्रक्रिया प्रारंभिक रूप से शुंग युग में ही विकसित हुई, जिससे यह संकेत मिलता है कि धार्मिक प्रतिष्ठानों को भी आर्थिक रूप से समर्थ किया गया। पुष्यमित्र शुंग का संपूर्ण जीवन और कार्य भारतीय इतिहास में एक ऐसी कड़ी है जो वैदिक परंपरा और मौर्यकालीन धारा के मध्य एक सेतु का कार्य करता है। उन्होंने भारत के सांस्कृतिक आत्मबल को पुनः जाग्रत किया, विदेशी आक्रमणों का सामना किया, धर्म और शिक्षा को पुनः सशक्त किया तथा एक सुदृढ़ राज्य प्रणाली की स्थापना की। उनकी उपलब्धियाँ केवल सैनिक और राजनीतिक नहीं थीं, अपितु सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और धर्मनिष्ठ राज्य की संकल्पना में भी उनका योगदान अनुपम था। वे एक ऐसे शासक थे जिन्होंने शक्ति, धर्म, संस्कृति और राज्यनीति के मध्य संतुलन साधा और भारतीय सभ्यता के उत्थान की आधारशिला को फिर से स्थापित किया। यद्यपि आधुनिक इतिहासकारों में उनके शासनकाल के कुछ पहलुओं को लेकर मतभेद हैं, तथापि यह निर्विवाद है कि पुष्यमित्र शुंग ने भारत को एक नए सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक मार्ग पर अग्रसर किया। उनका शासन यह प्रमाणित करता है कि भारतीय परंपरा में ब्राह्मण भी न केवल धर्माचार्य बल्कि शक्तिशाली शासक हो सकते हैं। उनका युग भारतीय इतिहास के उस परिवर्तनशील कालखंड का प्रतिनिधि है जिसमें भारत ने एक सांस्कृतिक नवजागरण की ओर कदम बढ़ाया।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि शुंग या तो ईरानी थे, या उनका संबंध ईरान के साथ था। ऐसा इस आधार पर माना जाता है कि शुंगवंशीय शासकों के नामों में शमित्रश और ईरान में प्रचलित मित्र (सूर्य) की पूजा में संबंध था। इस तर्क में भी दम नहीं है। इतिहासकार काशी प्रसाद जायसवाल के विचारानुसार पुष्यमित्र मौर्यवंश के राजपुरोहित का पुत्र था। अशोक की धार्मिक नीति से क्षुब्ध होकर राजपुरोहित एवं उनके वंशज धार्मिक क्रियाकलाप से अलग हो गए एवं सेना में नौकरी कर ली। इसी क्रम में पुष्यमित्र भी सेनापति बन गया। अतः, शुंग ब्रह्मण थे। जायसवाल की यह दलील सही हो या नहीं, परंतु अन्य उपलब्ध प्रमाण भी शुंगों को ब्राह्मण ही बताते हैं।

दक्षिण के पाषाण शिल्प और जकनचारी

मनीष रत्नपारखी

भारत की सांस्कृतिक और कलात्मक परंपरा में मूर्तिकला एक महत्वपूर्ण आयाम रही है। इस परंपरा में कुछ नाम युगों–युगों तक जीवित रहते हैं, और उनमें से एक है दक्षिण भारत का महान मूर्तिकार और मंदिर निर्माता जकनचारी। यह नाम केवल एक व्यक्ति का नहीं, बल्कि उस समर्पण, निपुणता और भक्ति का प्रतीक है जो भारतीय कला को जन–जन तक पहुँचाता है। जकनचारी की कथा में लोकगाथा, पौराणिकता, ऐतिहासिकता और आत्मबोध का अद्भुत संगम मिलता है। प्राचीन भारत की सांस्कृतिक पहचान को यदि मूर्त रूप में देखा जाए तो उसमें दक्षिण भारत के पाषाण शिल्पकारों की भूमिका अमिट है। चट्टानों पर छेनी–हथौड़ी से जीवन की अमरता रचने वाले इन शिल्पियों ने न केवल धर्म, अध्यात्म और समाज को आकार दिया, बल्कि समय की धाराओं को भी पत्थर पर अंकित कर दिया। उनके शिल्प कार्य केवल सजावटी या धार्मिक उपकरण नहीं थे, बल्कि वे तत्कालीन समाज के बौद्धिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक धरातलों का भी सजीव चित्रण करते थे।

दक्षिण भारत में शिल्पकला की परंपरा द्रविड़ सभ्यता के प्रारंभिक चरणों से ही रही है। यह परंपरा तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम सांस्कृतिक क्षेत्रों में समवेत रूप से विकसित हुई, और इसका उत्कर्ष विशेष रूप से सातवाहन, पल्लव, चोल, चालुक्य, पांड्य, होयसळ और विजयनगर साम्राज्यों के कालखंड में देखने को मिलता है। इन राजवंशों ने न केवल मंदिर निर्माण को प्रोत्साहन दिया, बल्कि उन्होंने शिल्पकारों को राजकीय संरक्षण, सम्मान और व्यापक सामाजिक महत्व भी प्रदान किया। होयसळ वंश के अधीन शिल्पकार कल्याण और धनंजय जैसे मूर्तिकारों ने बेलूर और हलेबिडु में पत्थरों को ऐसे आकार दिए, जो आज भी विस्मय उत्पन्न करते हैं। विजयनगर काल में हम्पी जैसे क्षेत्रों में दंडीश्वर, त्रैलोक्यनाथ और अनेक अज्ञात शिल्पियों ने मंदिर स्थापत्य में विशालता और वैभव को अभिव्यक्त किया। गोपुरम, मंडप और रथों की संरचनाएँ दक्षिण भारतीय स्थापत्य की उत्कर्ष सीमा को दर्शाती हैं। इन ऐतिहासिक नामों के साथ एक अत्यंत महत्वपूर्ण नाम आधुनिक युग में उभरा जकनचारी। कर्नाटक के इस महान पाषाण शिल्पकार ने न केवल पारंपरिक तकनीकों को जीवित रखा, बल्कि उन्हें नई पीढ़ी तक पहुँचाया। श्री जनकचारी ने बेलूर के चेनाकेशव मंदिर की पुनर्निर्माण और संरक्षण परियोजनाओं में अमूल्य योगदान दिया। उन्होंने होयसळ शिल्पशैली को पुनर्जीवित करते हुए कई नवीन मंदिरों में प्राचीन शैली के अनुरूप मूर्तियाँ और सज्जात्मक नक्काशियाँ तैयार कीं। जकनचारी को शिल्पगुरु की उपाधि भी प्राप्त हुई और उन्होंने देश–विदेश में भारतीय शिल्पकला का गौरव बढ़ाया। जकनचारी का जन्म कर्नाटक के चिकबल्लापुर जिले के कवलूर ग्राम में हुआ माना जाता है। यह

वह समय था जब दक्षिण भारत में होयसळ वंश का प्रभुत्व था और स्थापत्य कला अपने उत्कर्ष पर पहुँच रही थी। जकनचारी बचपन से ही शिल्पकला के प्रति आकर्षित थे और बाल्यकाल में ही उन्होंने पत्थर की आकृतियाँ बनाना प्रारंभ कर दिया था। धीरे–धीरे उन्होंने इस कला में इतनी सिद्धि प्राप्त कर ली कि वे दक्षिण भारत के कोने–कोने में प्रसिद्ध हो गए। कहा जाता है कि जकनचारी ने विवाह भी किया था, परंतु विवाह के तुरन्त बाद वे अपनी कला यात्रा पर निकल पड़े। उनका जीवन मंदिर निर्माण, मूर्तिकला और शिव भक्ति को समर्पित हो गया। उन्होंने वर्षों तक देश के विभिन्न क्षेत्रों में यात्रा की और अनेक भव्य मंदिरों में मूर्तियाँ गढ़ीं।

उनके जीवन की सबसे प्रसिद्ध कथा श्रीकालहस्ती से जुड़ी है। यह एक ऐतिहासिक नगर है जो वर्तमान आंध्र प्रदेश में स्थित है। लोकगाथा के अनुसार, जब जकनचारी यहाँ एक शिवलिंग की मूर्ति बना रहे थे, तब एक युवा मूर्तिकार ने उन्हें बताया कि मूर्ति में दोष है। जकनचारी को यह बात अहंकारजन्य प्रतीत हुई और उन्होंने उस युवक को तिरस्कृत कर दिया। परंतु

जब उन्होंने स्वयं मूर्ति की जाँच की, तो उसमें से मेंढक और जल निकला। यह त्रुटि उन्हें आत्ममंथन के लिए प्रेरित करती है और वे यह जानकर स्तब्ध रह जाते हैं कि वह युवक कोई और नहीं, बल्कि उनका अपना पुत्र तनकाचारी था। वर्षों पहले उन्होंने जिसे छोड़ा था, वही अब उनके समक्ष सत्य का दर्पण लेकर खड़ा था। इस घटना ने उन्हें विनम्रता और आत्मबोध का पाठ पढ़ाया। पिता–पुत्र के इस मिलन के बाद दोनों ने मिलकर और भी सुंदर मंदिरों का निर्माण किया। जकनचारी द्वारा निर्मित मंदिरों की चर्चा करें तो यह स्पष्ट होता है कि उनकी मूर्तिकला केवल सौंदर्य तक सीमित नहीं थी, वह आध्यात्मिकता से भी ओत–प्रोत थी। कहा जाता है कि उन्होंने बेलूर का चन्नकेशव मंदिर, हेलेबिड का होयसलेश्वर मंदिर, और श्रीकालहस्ती मंदिर में अपनी कला से जीवन भर की पहचान बनाई।

चन्नकेशव मंदिर, बेलूर होयसळ वंश के राजा विष्णुवर्धन द्वारा 12वीं शताब्दी में निर्मित एक भव्य मंदिर है, जो विष्णु को समर्पित है। इसकी दीवारों पर इतनी सूक्ष्म और जीवंत मूर्तियाँ उकेरी गई हैं कि पत्थर मानो बोल उठते हैं। इसमें गारुड़ मंडप और मुख्य विग्रह की अलंकरण शैली में जकनचारी के हस्ताक्षर देखे जाते हैं। होयसलेश्वर मंदिर, हेलेबिड शिव को समर्पित यह मंदिर दो समांतर गर्भगृहों और विस्तृत मंडपों वाला स्थापत्य चमत्कार है। इसकी बाहरी दीवारों पर रामायण, महाभारत, भागवत और शिवपुराण की कहानियाँ मूर्तिरूप में अंकित हैं। श्रीकालहस्ती मंदिर में स्थित शिवलिंग को जकनचारी की पराकाष्ठा का प्रतीक माना जाता है। यहीं वह प्रसिद्ध कथा घटित हुई थी, जो मूर्तिकला और आत्मबोध के अद्भुत संयोग को दर्शाती है। इतिहासकारों के अनुसार जकनचारी का काल 12वीं शताब्दी के मध्य का रहा होगा। यह वह काल था जब होयसळ शासकों ने स्थापत्य और शिल्पकला को राजकीय संरक्षण प्रदान किया। विष्णुवर्धन, वीर बल्लाल और नरसिंह वर्मा जैसे शासकों ने मंदिर निर्माण को न केवल धार्मिक, बल्कि सांस्कृतिक और राजनीतिक अभिव्यक्ति का माध्यम माना। जकनचारी जैसे मूर्तिकारों को राजकीय सम्मान प्राप्त था और उनकी कलाओं में उस युग की परिपक्वता परिलक्षित होती है।

जकनचारी का जीवन केवल मूर्तिकला तक सीमित नहीं रहा। उन्होंने आत्मा और ब्रह्म के संबंध को मूर्त रूप में व्यक्त किया। उनकी मूर्तियाँ केवल आकृतियाँ नहीं, बल्कि अनुभूतियाँ हैं। उनका हर शिल्प किसी भाव, विचार और दर्शन का मूर्तिमान रूप है। उनके शिल्प में स्थिरता में गति और जड़ता में चेतना का अद्भुत संतुलन दिखाई देता है। शिल्पकला पर केंद्रित ग्रंथों जैसे 'मयमतम्', 'विश्वकर्मा वास्तुशास्त्र' आदि में उस युग की मूर्तिकला की तकनीक और सौंदर्य दृष्टि का विस्तृत विवरण मिलता है, जिनसे यह समझा जा सकता है कि जकनचारी जैसे शिल्पियों ने किस बारीकी और सिद्धता से पत्थरों को प्राणवान बनाया। जकनचारी की कथा केवल एक व्यक्ति की नहीं, बल्कि भारतीय कला की उस चेतना की प्रतीक है जो भाव, भक्ति और बुद्धि तीनों को एक साथ लेकर चलती है। वह केवल एक मूर्तिकार नहीं, बल्कि उस परंपरा का प्रतिनिधि है जो पत्थरों में आत्मा देखती है और उन्हें दिव्यता से भर देती है। आज जबकि स्थापत्य और कला आधुनिक तकनीकों और व्यावसायिकता से प्रभावित हो चुके हैं, तब जकनचारी जैसे व्यक्तित्व हमें यह सिखाते हैं कि सच्ची कला केवल रूप नहीं, रस और राग का समागम होती है। वह तपस्या है, साधना है और आत्मा की खोज है। कर्नाटक की पाषाण शिल्प परंपरा भारतीय उपमहाद्वीप की कला–संपदा का एक अद्भुत अध्याय है। यह परंपरा हजारों वर्षों से चली आ रही है, जिसने शैव, वैष्णव और जैन धर्मों की विविध स्थापत्य शैलियों को आत्मसात कर कला और आध्यात्म के मध्य सेतु का निर्माण किया है। इस परंपरा की विशिष्टता उसकी तकनीकी दक्षता, प्रतीकात्मकता, भाव–संप्रेषण की क्षमता, और विस्तृत सौंदर्यबोध में निहित है। होयसला वंश के शासनकाल में पाषाण शिल्प अपनी पूर्णता पर पहुँची। बेलूर (चेनकेशव मंदिर), हलेबीडु (होयसलेश्वर मंदिर), और सोमनाथपुर (केशव मंदिर) इसके प्रमुख केंद्र हैं। इन मंदिरों में सोप स्टोन का उपयोग किया गया है, जो कोमल और गढ़ने में सरल होने के कारण सूक्ष्मता में अभिव्यक्ति की उत्कृष्टता का माध्यम बना। जकनचारी का कार्य यह दर्शाता है कि दक्षिण भारत की पाषाण शिल्पकला केवल इतिहास नहीं है, वह आज भी जीवित परंपरा है। उन्होंने यह सिद्ध किया कि पत्थर को केवल गढ़ा नहीं जाता, उसमें प्राण डाले जाते हैं। उनके द्वारा बनाई गई मूर्तियों में वही गूढ़ दार्शनिकता, वही सौंदर्यबोध और वही आध्यात्मिक गहराई है, जो प्राचीन शिल्पकारों की रचनाओं में दिखाई देती है। इन शिल्पकारों की सामाजिक स्थिति भी विशिष्ट थी। वे 'विश्वकर्मा' समुदाय से आते थे, जिन्हें निर्माण, धातु–कला, मूर्ति–निर्माण और वास्तुशास्त्र का उत्तराधिकारी माना जाता था। दक्षिण भारत में इन्हें देवशिल्पी के रूप में सम्मान प्राप्त था। मंदिरों के गर्भगृह में शिल्पकारों के हस्ताक्षर, उनके नामों की अंकित पट्टिकाएँ और कभी–कभी उनके स्वयं के प्रतिरूप इस बात के संकेत हैं कि समाज ने उन्हें केवल एक कारीगर नहीं, बल्कि सर्जक और ऋषि तुल्य माना। दक्षिण भारत के पाषाण शिल्पकारों की यह परंपरा आज भी कई रूपों में जीवित है। महाबलीपुरम्, बेलूर, तंजावुर और मदुरै जैसे स्थानों पर आज भी शिल्पकला की कारीगरी देखी जा सकती है। हालाँकि आधुनिक तकनीकों और जीवनशैली में परिवर्तन ने इस परंपरा को चुनौती दी है, फिर भी इन कलाकारों की अमर रचनाएँ और जनकचारी जैसे समर्पित शिल्पगुरु इस परंपरा को निरंतर जीवंत बनाए हुए हैं। इन शिल्पकारों की कला केवल अतीत की स्मृति नहीं, बल्कि यह भारतीय संस्कृति की वह जीवंत धरोहर है, जो न केवल हमारे पूर्वजों की साधना का परिणाम है, बल्कि हमारी आत्मा की भी पहचान है। जब हम उन पत्थरों में सजीवता का अनुभव करते हैं, तो यह केवल कला नहीं होती। यह एक साक्षात्कार होता है भारतीय आत्मा के, जो चिरकाल तक अमिट है।

प्राचीन अवंती जनपद की नदी संस्कृति

जयप्रकाश परिहार

अवंती जनपद, जो प्राचीन मालवा क्षेत्र में स्थित था, भारत की नदी संस्कृति का एक महत्वपूर्ण केंद्र था। नर्मदा और शिप्रा नदियाँ इस क्षेत्र की जीवनरेखा थीं। विशेषतः शिप्रा नदी धार्मिक और सांस्कृतिक गतिविधियों की धुरी थी, जिसके तट पर उज्जयिनी (वर्तमान उज्जैन) नगर बसा था। यहाँ महाकालेश्वर ज्योतिर्लिंग स्थित है। इन नदियों ने कृषि, व्यापार और तीर्थ परंपराओं को समृद्ध किया, जिससे अवंती जनपद वैदिक व पुराणिक काल में एक उन्नत सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। प्राचीन भारत के इतिहास और सांस्कृतिक भूगोल में अवंती जनपद एक अत्यंत समृद्ध और प्रभावशाली क्षेत्र रहा है। अपने राजनीतिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक वैभव के लिए प्रसिद्ध था। यह जनपद न केवल अपने नगरों, राजाओं और शास्त्रार्थों के लिए प्रसिद्ध था, बल्कि इसकी नदी–संस्कृति भी इसकी पहचान का प्रमुख आधार रही है। नदियाँ यहाँ की सामाजिक संरचना, धार्मिक अनुशीलन, कृषि व्यवस्था, व्यापार और अध्यात्म का जीवन–स्रोत थीं। प्राचीन काल में जब मानव जीवन प्रकृति के निकट था, तब नदियों को केवल जलधाराएँ नहीं समझा जाता था, बल्कि वे जीवनदायिनी मातृ शक्तियाँ मानी जाती थीं। अवंती जनपद की नदियाँ विशेषतः क्षिप्रा, चर्मणवती (चंबल), गंभीर, कालीसिंध, गम्भीरा और नर्मदा जैसी धाराएँ केवल भौगोलिक नहीं, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक प्रवाह की वाहिकाएँ थीं।

अवंती जनपद का हृदयस्थल उज्जयिनी था, जिसे क्षिप्रा नदी के तट पर बसाया गया था। क्षिप्रा इस जनपद की आत्मा मानी जाती थी। पौराणिक ग्रंथों में क्षिप्रा को पवित्र और पुण्यदायिनी कहा गया है। स्कन्दपुराण, पद्मपुराण और मत्स्यपुराण में क्षिप्रा के जल को मोक्षप्रदायिनी बताया गया है। ऐसी मान्यता थी कि जो व्यक्ति क्षिप्रा के तट पर स्नान करता है, उसे समस्त पापों से मुक्ति मिलती है। क्षिप्रा के तट पर अनेक यज्ञ, शास्त्रार्थ और सांस्कृतिक उत्सव होते थे। महाकालेश्वर ज्योतिर्लिंग की स्थापना भी क्षिप्रा की उपस्थिति से शक्ति पाता है। उज्जयिनी नगरी, जिसकी गणना सप्तपुरियों में होती है, अपने स्वरूप को क्षिप्रा के जल में ही देखती रही है। यहाँ प्रत्येक बारह वर्ष में होने वाला सिंहस्थ महाकुंभ केवल धार्मिक आयोजन नहीं, बल्कि नदी–संस्कृति का महान उत्सव है, जहाँ ऋषि, मुनि, योगी, संत, गृहस्थ, विद्वान और सामान्य जन सभी क्षिप्रा की धारा में आस्था और मोक्ष का संगम देखते हैं। क्षिप्रा न केवल उज्जयिनी की धमनियों में बहती रही, बल्कि इसने अवंती की सामाजिक चेतना को भी सींचा। प्राचीन अवंती जनपद की नदी संस्कृति में नर्मदा का स्थान सर्वोच्च रहा है। यह केवल एक भौगोलिक प्रवाह नहीं, बल्कि जनपद की सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक चेतना की धार थी। नर्मदा को श्रेवाश के नाम से भी जाना गया, और उसकी धारा को साक्षात् देवीस्वरूप माना गया। पुराणों में कहा गया है कि नर्मदा के तट पर केवल उसका दर्शन ही पापों से मुक्त कर सकता है। महर्षि मार्कण्डेय, अगस्त्य और पुलस्त्य जैसे ऋषियों ने इसी धारा के तट पर तप किया और उसे साक्षात् जीवनदायिनी मानकर पूजा की। अवंती के नगर उज्जयिनी से कुछ ही दूर यह धारा प्रवाहित होती थी, जिससे यह जनपद समृद्ध जल–संस्कृति का केंद्र बन गया। नर्मदा का प्रवाह मालवा के पठार को सिंचित करता था, जिससे कृषि और वनस्पति संपन्न होती थी। साथ ही यह व्यापार के मार्ग का आधार भी बनी, जिससे अवंती एक प्रमुख व्यापारिक केंद्र बन सका। उसकी धारा ने धार्मिक आस्था और भौतिक समृद्धि, दोनों की धाराओं को समन्वित किया। यह नदी केवल भूमि नहीं, आत्मा को भी सींचती थी। अतः उसका उल्लेख अवंती की हर कथा, हर संस्कार और हर पर्व में अभिन्न रूप से होता है। उसके तट पर हुए यज्ञों, प्रवचनों और साधना–स्थलों ने उसे 'तपस्विनी नदी' का गौरव दिलाया और जनपद की आत्मा में स्थायी रूप से बसाया। अवंती की एक अन्य प्रमुख नदी थी चर्मणवती, जिसे आज चंबल के नाम से जाना जाता है। चंबल नदी की कथा भी

अत्यंत रोचक और सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार चर्मणवती का नामकरण एक पौराणिक घटना से जुड़ा है, जिसमें कहा गया है कि एक युद्ध में इतने शव पड़े कि धरती चमड़े की तरह लाल हो गई और तब इस नदी को चर्मणवती कहा गया। परंतु यही नदी कालांतर में अवंती के पूर्वी भाग की संस्कृति को पोषित करने वाली बन गई। इसकी घाटियों में कृषि का प्रसार हुआ, लोगों ने जल से सिंचाई और मत्स्य–पालन का अभ्यास किया। इस नदी के किनारे अनेक जनजातियाँ और शिल्प–समुदाय बसते थे, जिनकी आजीविका इस जलधारा से जुड़ी थी। अवंती के राजाओं ने चर्मणवती घाटी में व्यापारिक मार्ग विकसित किए थे, जिनसे मालवा का व्यापार उत्तर भारत और गंगा–द्रोणी तक विस्तारित होता था। गंभीर नदी भी अवंती की एक अत्यंत महत्वपूर्ण धारा थी। यह क्षिप्रा की सहायक नदी मानी जाती है और उज्जैन नगर के पश्चिमी अंचल में बहती है। गंभीर का नाम ही यह दर्शाता है कि यह नदी अपने प्रवाह में गंभीरता और स्थायित्व का प्रतीक है। इसके तट पर ऋषियों के आश्रम हुआ करते थे, और इसने कृषि के क्षेत्र में विशेष योगदान दिया। यह नदी वर्षाजल को संचित कर क्षिप्रा में प्रवाहित करती थी, जिससे उज्जैन क्षेत्र की भूमि में जल की उपस्थिति बनी रहती थी। गंभीर की उपस्थिति ने क्षेत्रीय पारिस्थितिकी को स्थायित्व प्रदान किया।

कालीसिंध नदी भी अवंती जनपद के सांस्कृतिक मानचित्र का एक प्रमुख भाग थी। यह नदी राजस्थान से निकलकर मालवा में प्रवेश करती है और कई ग्रामीण क्षेत्रों को पोषित करती है। इसके तटों पर कृषि–सम्बन्धी अनेक अनुष्ठान होते थे। ऋतुओं के परिवर्तन के साथ यहाँ वनों और खेतों की छवि इस नदी की धारा में प्रतिबिम्बित होती थी। कालीसिंध की अनेक लोककथाएँ हैं जिनमें नदी को देवी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। नवरात्रि और फसल के उत्सवों में इस नदी का जल लाकर देवी के चरणों में अर्पित किया जाता था। यह प्रथा इस बात को दर्शाती है कि प्राचीन समय में जल और देवी का संबंध कितना गहन और पवित्र था। अवंती की भूमि पर बहने वाली एक और महत्वपूर्ण धारा है गम्भीरा, जिसे प्राचीन ग्रंथों में गम्भीरिका के नाम से भी जाना गया है। यह नदी उज्जैन के आस–पास बहती है और इसके जल से कई तालाब और कुएँ पोषित होते थे। गम्भीरा को स्थानीय देवी मानकर पूजा जाता था। इसके तटों पर वनों का विस्तार था, जहाँ आयुर्वेदिक जड़ी–बूटियाँ पाई जाती थीं। आयुर्वेदाचार्य और औषध–निर्माता इस नदी के जल का प्रयोग औषधियों में करते थे। इससे यह समझा जा सकता है कि अवंती की नदी संस्कृति केवल आध्यात्मिक नहीं, अपितु चिकित्सा और लोक स्वास्थ्य से भी सम्बद्ध थी। अवंती जनपद की नदियाँ केवल जलप्रदायिनी नहीं थीं, वे संस्कृति की धारक और वाहक थीं। इन नदियों के तटों पर यज्ञ, अनुष्ठान, शिक्षा, संगीत, शिल्प और विज्ञान के केन्द्र विकसित हुए थे। यह जनपद प्राचीन काल में जिस प्रकार राजनीतिक शक्ति का केन्द्र था, उसी प्रकार नदी–संस्कृति के द्वारा यह जनपद अध्यात्म, साहित्य और जीवन–दर्शन का भी केन्द्र बना। क्षिप्रा के तट पर कालिदास ने अपने नाटकों और कविताओं की रचना की, वही नदी उनके काव्य में एक प्रतीक बनकर बहती है।

महाकवि ने 'मेघदूत' में जिस उज्जयिनी का वर्णन किया है, वह क्षिप्रा के ही जलरंगों से चित्रित है। नदियाँ यहाँ केवल भूगोल नहीं, काव्य थीं। नदी–संस्कृति का प्रभाव यहाँ के सामाजिक व्यवहार में भी परिलक्षित होता है। विवाह, जन्म, उपनयन, श्राद्ध और अन्य संस्कारों में इन नदियों के जल का प्रयोग होता था। ये नदियाँ समाज को न केवल जल देती थीं, बल्कि शुद्धता, चेतना, और सांस्कृतिक अनुशासन भी प्रदान करती थीं। प्राचीन अवंती जनपद में जल–संरक्षण की अनेक परम्पराएँ थीं, जिनमें तालाब, कुएँ, बावड़ियाँ और वर्षाजल संग्रह की प्रणालियाँ विकसित की गई थीं। ये सभी व्यवस्थाएँ नदियों के प्रवाह और उपयोग से ही जुड़ी थीं। शासन द्वारा नदी–तटों पर उद्यान, पाठशालाएँ और आश्रम बनवाए गए थे, जिससे जल के साथ शिक्षा और संस्कृति का भी प्रवाह बना रहा। अवंती की नदी संस्कृति में लोक जीवन का अपार योगदान था। नदियों को लेकर अनेक लोकगीत, लोकोक्तियाँ और किंवदंतियाँ प्रचलित थीं। ये लोककथाएँ नदियों को केवल प्राकृतिक धारा नहीं, बल्कि जीवंत देवी के रूप में प्रस्तुत करती थीं। क्षिप्रा की कथा में एक स्थान आता है जहाँ एक कन्या नदी में स्वयं को समर्पित करती है और वह नदी बन जाती है। यह लोककथा यह संकेत देती है कि नदियाँ स्त्रीत्व का प्रतीक थीं, मातृत्व की भावना का विस्तार थीं। यहाँ की नारी शक्ति और नदी शक्ति एक–दूसरे से जुड़ी हुई थीं। प्राचीन अवंती जनपद की यह नदी–संस्कृति इस बात का प्रमाण है कि जब मनुष्य और प्रकृति के बीच कोई कृत्रिम विभाजन नहीं था, तब जीवन संपूर्ण रूप से संतुलित और समृद्ध था। नदियों के प्रति श्रद्धा, उनके संरक्षण की प्रवृत्ति, और उनके साथ आध्यात्मिक संबंध ये सब उस समय की जीवन दृष्टि को दर्शाते हैं, जो आज के समय में कहीं खोती जा रही है। आज जब जल संकट और नदी–प्रदूषण जैसी समस्याएँ विश्वभर में चिंता का विषय हैं, तब प्राचीन अवंती की यह नदी–संस्कृति एक मार्गदर्शन बन सकती है, जो हमें यह सिखाती है कि नदियों को केवल संसाधन नहीं, बल्कि जीवन की सहचरी और संस्कृति की धारणा के रूप में देखना चाहिए। अवंती जनपद की नदियाँ न केवल जलधाराएँ थीं, बल्कि सांस्कृतिक धरोहर थीं, जो इस जनपद के प्रत्येक अंश में प्रवाहित थीं। क्षिप्रा, चर्मणवती, गंभीर, कालीसिंध, गम्भीरा और नर्मदा। इन सबकी सम्मिलित उपस्थिति ने अवंती को एक जीवंत, गूढ़ और बहुआयामी सांस्कृतिक क्षेत्र में रूपांतरित किया। ये नदियाँ ही थीं, जिनमें अवंती का अतीत बहता था, वर्तमान सींचा जाता था और भविष्य के बीज रोपे जाते थे। अतः यह कहा जा सकता है कि अवंती की संस्कृति वास्तव में उसकी नदी–संस्कृति थी। जीवंत, प्रवाहशील, धर्मयुक्त और जीवनदायिनी।

शिलालेख अभिव्यक्ति की प्राचीन परंपरा

ऋतु मिश्र

प्राचीन भारत में शिलालेखों का इतिहास न केवल लेखन की प्राचीन परंपरा का प्रमाण है, बल्कि वह भारत की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना का अमूल्य दर्पण भी है। शिलालेख, अर्थात पत्थरों पर खुदे हुए लेख, भारत में ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से ही प्राप्त होते हैं। मौर्य सम्राट अशोक द्वारा जारी किए गए अभिलेख इस परंपरा की शुरुआती कड़ियों में प्रमुख हैं। ब्राह्मी लिपि में लिखे गए ये शिलालेख नीति, धर्म, शासन और सामाजिक सुधारों की घोषणाएँ करते हैं। शिलालेखों का उपयोग राजाओं द्वारा अपने आदेशों, युद्ध विजयों, दान पत्रों और मंदिर निर्माण जैसे धार्मिक कार्यो को सार्वजनिक रूप से अंकित करने हेतु किया जाता था। इनमें प्रयुक्त भाषाएँ समय और क्षेत्र के अनुसार भिन्न होती थीं। ब्राह्मी, खरोष्ठी, नागरी, तमिल–ब्राह्मी, संस्कृत और प्राकृत प्रमुख हैं। गुप्तकाल, चालुक्य, पल्लव, चोल, राष्ट्रकूट और यादव जैसे राजवंशों के समय में शिलालेख–लेखन की परंपरा और अधिक परिपक्व हुई।

इन अभिलेखों के माध्यम से इतिहासकारों को राजवंशों की वंशावलियाँ, युद्धों के वर्णन, कर–प्रणाली, सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक गतिविधियों की जानकारी मिलती है। प्राचीन भारत के इतिहास का अध्ययन करते समय शिलालेख एक प्रमुख स्रोत के रूप में सामने आते हैं। ये शिलालेख पत्थरों, स्तंभों, गुफाओं, मंदिरों और ताम्रपत्रों पर अंकित ऐसे दस्तावेज हैं, जो तत्कालीन शासकों के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सैन्य कार्यों का जीवंत चित्र प्रस्तुत करते हैं। विशेष रूप से युद्ध और विजय से संबंधित वर्णन भारतीय शिलालेखों का एक केंद्रीय तत्व रहे हैं। इनमें न केवल युद्धों के कारण, उनका परिणाम, शत्रु के प्रति नीति, बलिदान और विजय की भावना व्यक्त होती है, बल्कि इनमें समय–समय पर युद्ध की विभीषिका, क्षमा, दया, और धर्म का भी चित्रण होता है। यह आलेख इन्हीं शिलालेखों में वर्णित युद्ध संबंधित विवरणों की एक विस्तृत यात्रा प्रस्तुत करता है। प्राचीन भारत में युद्ध केवल एक सैन्य अभियान नहीं था, बल्कि यह राजा के धर्म और कर्तव्य का अंग माना जाता था। धर्मशास्त्रों और महाकाव्यों में युद्ध को राजधर्म का आवश्यक हिस्सा माना गया है। शिलालेखों में इसे शौर्य, धर्म और प्रतिष्ठा से जोड़ा गया। युद्ध की घोषणा, उसके आयोजन, शत्रु की पहचान, रणभूमि में हुए पराक्रम और अंततः विजय यह सब कुछ विवरणों के साथ शिलालेखों में अंकित किया गया। भारतीय इतिहास में युद्ध से संबंधित सबसे प्रसिद्ध और प्रभावशाली शिलालेख सम्राट अशोक के हैं। मौर्य सम्राट अशोक ने कलिंग युद्ध (ई.पू. 261) के पश्चात जो आत्मबोध प्राप्त किया, वह तेरहवें शिलालेख में स्पष्ट रूप से झलकता है। इस शिलालेख में युद्ध के परिणामस्वरूप हुई मानवीय क्षति का मार्मिक चित्रण किया गया है। यह शिलालेख भारत में एक शासक के हृदय परिवर्तन की उद्घोषणा बन गया। अशोक के शिलालेखों में यह भी दर्ज है कि उन्होंने आगे युद्ध नीति का त्याग कर 'धम्म विजय' को अपनाया और शांति, अहिंसा और करुणा के माध्यम से प्रशासन चलाने का संकल्प लिया। यह इतिहास में पहली बार था जब युद्ध के पश्चात एक सम्राट ने सार्वजनिक रूप से पश्चाताप व्यक्त किया और शांति के मार्ग को अपनाया। गुप्त साम्राज्य के शिलालेखों में युद्ध, विजय और राजनीतिक प्रभुत्व का गौरवपूर्ण चित्रण मिलता है। विशेषकर समुद्रगुप्त का प्रयाग प्रशस्ति शिलालेख (इलाहाबाद स्तंभ लेख), जिसे हरिषेण ने रचा, एक अद्वितीय उदाहरण है। इस शिलालेख में समुद्रगुप्त के दक्षिणी अभियान, आर्यावर्त की विजय, तथा सीमावर्ती राज्यों पर प्रभुत्व का उल्लेख अत्यंत शौर्य के साथ किया गया है। यहाँ युद्ध को वीरता, साहस और शत्रु के पराभव की भव्यता के साथ प्रस्तुत किया गया है। समुद्रगुप्त को 'भारत का नेपोलियन' कहा जाता है और यह उपाधि उसके शिलालेखों में वर्णित युद्ध अभियानों से पुष्ट होती है।

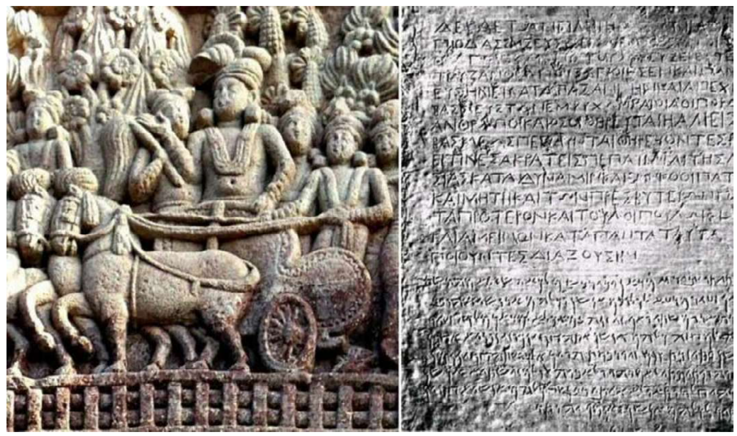

दक्षिण भारत के शिलालेखों में युद्ध के विवरण एक ओर जहाँ राजनीतिक शक्ति के प्रदर्शन का माध्यम थे, वहीं दूसरी ओर विजय का धार्मिक स्वरूप भी इनमें मिलता है। चालुक्य शासकों के शिलालेख, जैसे कि पुलकेशिन द्वितीय के ऐहोले प्रशस्ति (634 ई.) में हर्षवर्धन की पराजय का वर्णन गर्व के साथ किया गया है। इसी प्रकार राष्ट्रकूट शासकों के शिलालेखों में बंगाल, मध्यभारत और कांची तक किए गए अभियानों का वर्णन है। ये शिलालेख केवल विजयों का दस्तावेज नहीं हैं, बल्कि उनमें यह भी उल्लेख मिलता है कि विजित क्षेत्रों में किस प्रकार से धर्म, कला और संस्कृति का विस्तार हुआ।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

भारत की बोलियों में गूंजता विक्रमादित्य

भारतीय लोकजीवन में सम्राट विक्रमादित्य एक ऐसा नाम है जो न्याय, पराक्रम, त्याग और सांस्कृतिक गौरव का प्रतीक बन चुका है। यद्यपि इतिहास में उनके काल और व्यक्तित्व को लेकर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण मिलते हैं, फिर भी जनमानस की स्मृति में वे सदैव एक आदर्श सम्राट, न्यायप्रिय शासक और सांस्कृतिक नायक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'लोक कथाओं का कीर्ति पुरुष विक्रमादित्य', जिसे डॉ. पूरण सहगल ने अत्यंत सूक्ष्मता और श्रम से लिपिबद्ध किया है, इसी लोक स्मृति के बहुआयामी स्वरूप को एकत्र कर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करती है। यह पुस्तक केवल एक व्यक्ति विशेष की महिमा का गुणगान नहीं है, बल्कि यह उस ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक धरोहर का पुनर्पाठ है, जो भारत के विभिन्न अंचलों में सदियों से जीवित है। मराठी, भोजपुरी, हिंदी, मालवी, निमाड़ी, बंजारी, छत्तीसगढ़ी, बघेली, पंजाबी और हाड़ोती जैसी भाषाओं और बोलियों में फैली लोककथाओं के माध्यम से यह पुस्तक न केवल सम्राट विक्रमादित्य के चरित्र की पुनर्स्थापना करती है, बल्कि लोकसंस्कृति की व्यापकता और एकता का भी प्रमाण देती है। इस संकलन की सबसे बड़ी विशेषता इसकी भाषाई और भौगोलिक विविधता है। अलग-अलग क्षेत्रों में जन्मी और पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक परंपरा से प्रवाहित होती कथाएँ एक ही नायक (विक्रमादित्य) को अपने-अपने संदर्भों में प्रस्तुत करती हैं। कहीं वह न्यायप्रिय राजा हैं, तो कहीं चतुर और साहसी वीर। कहीं वह अंधविश्वासों को तोड़ने वाले हैं, तो कहीं धर्म और नीति के संस्थापक। इन सब कथाओं का एक साझा सूत्र है। एक ऐसा आदर्श राजपुरुष, जो जन-जीवन के दुःख-दर्द का संवाहक है।

डॉ. सहगल ने इन कथाओं को केवल अनूदित या लिपिबद्ध ही नहीं किया, बल्कि उन्हें उनके सांस्कृतिक संदर्भों के साथ व्याख्यायित भी किया है। यह कार्य केवल संकलन नहीं बल्कि पुनर्निर्माण है। एक ऐसे कीर्ति पुरुष की छवि का पुनर्निर्माण, जो समय और स्थान की सीमाओं से परे है। विक्रमादित्य का समय मालवा का स्वर्ण युग माना गया है। इस पुस्तक में यह बात स्पष्ट रूप से उभरती है कि किस प्रकार भरथरी जैसे राजयोगी ने स्वराज की अवधारणा का सूत्रपात किया, जिसे सम्राट विक्रमादित्य ने मूर्त रूप दिया, और बाद में महाराजा भोज ने उसे सुसंस्कृत और समृद्ध बनाकर मालवा को सांस्कृतिक राजधानी का दर्जा दिलाया। कई लोककथाएँ विक्रमादित्य की न्यायप्रियता को केंद्र में रखती हैं, जहाँ वह असंभव प्रतीत

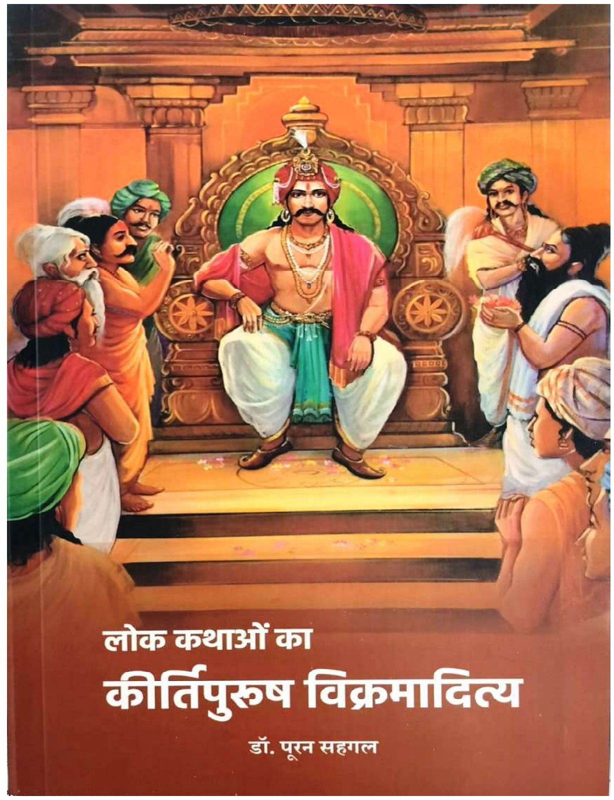

होने वाले निर्णय भी ऐसे विवेक से लेते हैं कि अन्याय का कोई स्थान न बचे। वहीं अन्य कथाओं में वह राक्षसी शक्तियों, दुष्ट मंत्रियों या दुष्ट आत्माओं से लड़ते दिखते हैं, जैसे बेताल पच्चीसी की कथाएँ जो यद्यपि इस संग्रह का प्रमुख हिस्सा नहीं हैं, पर उनके समरूप आख्यानों की प्रतिध्वनि विभिन्न भाषायी कथाओं में मिलती है। इतिहास और मिथक के इस संतुलन को डॉ. सहगल ने कुशलतापूर्वक साधा है। उन्होंने आलोचकीय हस्तक्षेप के बजाय लोक कथाओं को स्वयं बोलने दिया है और पाठकों को यह समझने का अवसर दिया है कि इतिहास और लोक की स्मृति में कितना अंतर और साम्य होता है। यहाँ सम्राट विक्रमादित्य केवल इतिहास नहीं, बल्कि सांस्कृतिक विचारधारा के वाहक हैं। वे हिंदू जीवनमूल्यों, न्याय-नीति और धर्मसंगत शासन की लोककल्पना को मूर्त रूप देते हैं। इस विमर्श को पुस्तक में कहीं भी थोपने का प्रयास नहीं किया गया है, बल्कि वह कथाओं से स्वाभाविक रूप से उभरता है। पुस्तक में शामिल प्रत्येक कथा को मूल बोली के स्पर्श के साथ प्रस्तुत किया गया है। जहाँ-जहाँ संभव हुआ है, वहाँ उस बोली का विशिष्ट मुहावरा और शैली संरक्षित रखी गई है।

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन 456010 से प्रसारित। संपादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए। फोन : 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com